P: ISSN NO.: 2394-0344 RNI No.UPBIL/2016/67980 VOL-3* ISSUE-1* April- 2018
E: ISSN NO.: 2455-0817 Remarking An Analisation

प्राचीन समय में शिक्षा प्रणाली का महत्त्व, विकास एवं उद्योग

कैलाश चन्द शर्मा
असिस्टेंट प्रोफेसर,
संस्कृत विभाग,
शहीद कैप्टन रिपुदमन सिंह राजकीय महाविद्यालय,
सवाईमाधोपुर

सारांश

प्राचीन काल में शिक्षा प्रणाली भारतवर्ष की एक आदर्श प्रणाली रही है। उसका ध्येय बहुत ही ऊंचा रहा है। यद्यपि सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक विकास के लिए भौतिक विद्याओ का प्रयोग विकास हुआ था। फिर भी अध्यात्मविद्या अध्ययन की केन्द्र बिन्दु मानी गई थी। आज शिक्षा प्रणाली का ध्येय बहुत गिरा हुआ है। अंग्रेजी शासन काल में शिक्षा का उद्देश्य केवल यही रह गया था कि एक व्यक्ति पढ़ लिखकर लिपिक कार्यालयाधिकारी बन जाए, परंतु खेद है कि स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात भी शिक्षा प्रणाली में कोई अंतर नहीं हुआ है। हम पहले अंग्रेजों को ताकते थे और अब रूस और अमेरिका को। आज एम.ए. और बी.ए. जैसी उपाधियों का कोई महत्व नहीं रहा है। लोग उनका मखौल उड़ाते हैं। आधुनिक शिक्षा प्रणाली के दुर्गुणों के कारण हमारे समाज और राष्ट्र का पतन हो रहा है। इसके विपरीत यदि प्राचीन शिक्षा प्रणाली पर दृष्टिपात किया जाए तो उसमें अनेक गुण मिलेंगे। आज हमें अपनी शिक्षा प्रणाली में क्रांति लाकर उसे आदर्श रूप में डालना चाहिए ताकि हम सब लोग अपने योगक्षेम का ध्यान रखते हुए समाज और राष्ट्र का कल्याण कर सकें। संप्रति शिक्षा में महत्वपूर्ण परिवर्तन किए जा रहे हैं, उसे राष्ट्र के सर्वांगीण विकास के लिए उपयोगी बनाया जा रहा है, हमारी शिक्षा प्रणाली आधुनिक मार्ग को प्रशस्त कर सकेगी।

मुख्य शब्द : शिक्षा, वेद , धर्म , ऋण, उद्योग , विद्यार्थी, शिक्षक, ब्रह्मचर्य

प्रस्तावना

प्राचीन भारत में शिक्षा को विशेष महत्व दिया गया था इसी के लिए ब्रम्हचर्य आश्रम की स्थापना की गई थी। ब्रह्मचर्याश्रम का विकास अत्यंत ही प्राचीन काल में हुआ था। अथर्ववेद में इसके विकसित स्वरूप के दर्शन होते हैं। अथर्ववेद में लिखा है कि ब्रह्मचर्य और तप से देवता लोग मृत्यु को भी मार डालते हैं। ब्रह्मचर्याश्रम में इस प्रकार की शिक्षा दी जाती थी जिससे वह पुरुषार्थचतुष्टय की सिद्धि तथा मानव जीवन के सर्वांगीण विकास में तत्पर हो सकता था। यही से शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक आदि शक्तियों के विकास का श्रीगणेश होता था। प्राचीन काल में विद्यार्थी को ब्रह्मचारी भी कहा जाता था। वह ब्रह्मचर्य आश्रम में रहकर ज्ञान उपार्जन करता था। ज्ञान को मनुष्य का तृतीय नेत्र माना गया है। ईशावास्योपनिषद् में विद्या के द्वारा अमृत की प्राप्ति की चर्चा की गई है। महात्मा भर्तृहरि ने साहित्य, संगीत और कला से रहित मनुष्य को साक्षात पशु ही माना है। विद्या विनय प्रदान करती है, विनय से पात्रता आती है, पात्रता से धन की प्राप्ति होती है और धन से धर्म और सुख की प्राप्ति होती है। ब्रह्मचारी के चरित्र का रूपांतर एवं उत्तम संस्कार का अभ्युदय के लिए सक्षम बनाना। उसमें नैतिक भावनाओ का सम्यक् विकास। उनके व्यक्तित्व का पूर्ण विकास। नागरिक और सामाजिक कर्तव्यों के पालन की भावना भरना। सामाजिक योग्यता तथा सुख की समृद्धि। राष्ट्रीय परंपराओ और संस्कृति का संरक्षण तथा प्रचार–प्रसार। प्राचीन उच्च शिक्षा प्रणाली में ब्रह्मचर्य जीवन का विशेष महत्व था। प्रत्येक विद्यार्थी को सीधा–सादा जीवन व्यतीत करना पड़ता था।

साहित्यावलोकन

प्राचीन समय की शिक्षा प्रणाली के महत्व को अनेक विद्वानों ने स्वीकार किया है। शिक्षा के विकास में उसका उद्योग प्रबंधन में योगदान के बारे में कई ग्रंथो में उल्लेख मिलता है। डॉ. रामजीलाल उपाध्याय ने ''भारतस्य सांस्कृतिकनिधिः'' नामक ग्रन्थ में आध्यात्मिक एवं धार्मिक शिक्षा पर प्रकाश डाला हैं। डॉ. विशम्भर दयाल अवस्थी ''वैदिक साहित्य संस्कृति और दर्शन'' नामक पुस्तक में वैदिक शिक्षा पद्धति और उसके विकास के बारे में वर्णन किया हैं। आचार्य

उमेश शास्त्री ने ''भारतीय संस्कृति के तत्व'' पुस्तक में प्राचीन शिक्षा के प्रणाली के महत्व एवं विकास के बारे में उल्लेख मिलता हैं। डॉ. देवीशंकर मिश्र ने अपनी रचना ''संस्कृत साहित्य का इतिहास'' में बताया हैं की यज्ञ की विविध विधियों में कर्मकांड के माध्यम से पौरोहित्य शिक्षा के महत्व को बताया हैं।

विकास

प्राचीन काल में विभिन्न विद्याओं एवं शास्त्रों का आश्चर्यजनक विकास हुआ था। उनके अध्ययन–अध्यापन आदि की समुचित व्यवस्था हुई थी। वेद पठन पाठन के प्रमुख एवं महत्वपूर्ण विषय थे। वेदाध्ययन के सहयोग के लिए तथा वेदार्थ को समझने के लिए छंद ,व्याकरण, निरुक्त, निघण्टु, ज्योतिष, कल्प आदि विभिन्न विद्याओ तथा शास्त्रों को पढना पड़ता था। यज्ञादि अनुष्ठानो को यथाविधि समझने के लिए शुल्वादि सूत्रो का पठन–पाठन होता था, जिनमें रेखागणित का उपयोग किया गया है। गणित आदि विद्या का ज्योतिष से संबंध है। इन कारणों से यह स्पष्ट है कि वेदाध्ययन के लिए विभिन्न विद्याओ का अध्ययन–अध्यापन भी अनिवार्य जैसा था। धर्म, कला,शिल्प और विज्ञान, और आध्यात्मिकता का अधिक महत्व होने के कारण धार्मिक शिक्षा को विशेष महत्व दिया जाता था।

वेद कालीन भारत में ब्राह्मण ही शिक्षा की व्यवस्था करते थे। उनके घर पर ही अध्ययन–अध्यापन होता था। इस प्रकार से उनके घर को ही पाठशाला कहा जा सकता था। उत्तर वैदिक काल में सार्वजनिक शिक्षा संस्थाओ का विकास हुआ था। इसी काल में आश्रम व्यवस्था हुई थी। शिष्यों को नगर से सुदूर प्राकृतिक आश्रमों में निवास करना पड़ता था। कि तैत्तिरीयोपनिषद् तथा बृहदारण्यक से ज्ञात होता है कि प्रसिद्ध आचार्यों के पास दूर–दूर से विद्यार्थी विद्या ग्रहण करने आते थे। पाणिनी की अष्टाध्यायी से पता चलता है कि उस काल में दो प्रकार की शिक्षा संस्थाएं रही थी।१.वे शिक्षा संस्थाएं जिनमे पितृगृह में आकर अध्यापक शिक्षा देते थे। २. वे शिक्षण संस्थाएं जो गुरुकुल की तरह होती थी।

महत्त्व

प्राचीन मनीषियों की मान्यता थी कि सहवास या संगति और अनुकरण का विद्यार्थी के चरित्र निर्माण और बुद्धि के विकास में महत्वपूर्ण योगदान होता है। कहां गया है कि विद्वानों के अनुकरण से मूर्ख विद्यार्थी भी बुद्धिमान बन जाता है। प्राचीन काल में शिक्षार्थी को आचार्य के प्रत्यक्ष नियंत्रण में अर्थात् गुरुकुल में भेजने पर अधिक जोर दिया जाता था। छांदोग्य उपनिषद से जानकारी मिलती है कि उद्दालक आरूणि का पुत्र श्वेतकेतु गुरुकुल में शिक्षा प्राप्त करने गया था।[1] शिक्षार्थी को 'अंतेवासी' (आचार्य के सानिध्य में वास करने वाला) कहा जाता था। अब गुरुकुल व्यवस्था का विवेचन करने से पूर्व शैक्षणिक संस्कार के बारे में कुछ जानकारी प्राप्त कर लेना उचित होगा। वस्तुतः यह संस्कार उस समय होता था जब विद्यार्थी शिक्षा प्रारंभ करता था। अथर्ववेद में इस संस्कार को वेदाध्ययन के लिए दीक्षा का सूचक कहा है। दुसरे शब्दों में उपनयन का अभिप्राय बालक को आचार्य के समीप ले जाना था। कहा भी है – ''उपसमीपे आचार्यदीनां वदो नीतिनयनप्रापणमुपनयनम्' ध्यातव्य है कि संस्कार से अभिप्राय सुधारना या संयत करना था अर्थात् किसी पदार्थ को गुणयोग्य बनाना। गृह्यसूत्रों के काल तक इस संस्कार का कर्मकांड पूर्णतः विकसित एवं प्रतिष्ठित हो चुका था फिर भी इसका मूल प्रयोजन शिक्षा ही बना रहा। इसे वह कृत्य माना गया जिसके द्वारा व्यक्ति को गुरू, वेद, यम–नियम का वृत एवं देवता के समीप ले जाया जाएं , उल्लेख मिलता है कि आर. के. मुकर्जी के अनुसार प्राचीन काल में उपनयन को आधुनिक स्कूल में प्रवेश मान सकते है।[2]

उपनयन के माध्यम से शिक्षा को व्यापक बनाकर पूरे भारतीय समाज को साक्षर बनाने का उद्योग किया गया। शिक्षा के लिए उपनयन को अनिवार्य बनाने में यह विचार भी सहायक हुआ कि इसमें पवित्र करने की शक्ति निहित है। वेद की किसी नवीन शाखा का अध्यन प्रारंभ करने से पूर्व पुनः उपनयन किया जाता था। याज्ञवल्क्य ने निर्देशित किया है कि महान व्यक्तियों से शिष्य का उपनयन करके गुरु को वेद का अध्यापन करवाना चाहिए और शौच एवं आचार्य की शिक्षा देनी चाहिए।[3] आगे जाकर यह संस्कार कर्मकांड से मुक्त नहीं रह पाया कहा, जाने लगा कि उपनयन से व्यक्ति का नया जन्म होता है एवं वह द्विज कहलाता है। इस तरह उपनयन संस्कार ब्रह्मचर्य जीवन के प्रारंभ के नए अध्याय की भूमिका के समान था और जीवन की मर्यादा, शिष्टता और आत्म संयम उसकी प्रमुख विशेषता थी। ब्रह्मचारी अपने को ज्ञान के पथ पर एक आत्मनिर्भर यात्री समझता था।

ब्रह्मचर्य दो शब्दों 'ब्रह्म' और 'चर्य' से बना है। ब्रह्म का अर्थ है वेद अथवा महान और 'चर्य' से तात्पर्य है अनुसरण करना है। इन दोनों का सम्मिलित अभिप्राय है, 'ब्रह्म के मार्ग पर चलना'। दोनों एक दूसरे के समानार्थी हैं। ब्रह्मचर्य का तात्पर्य केवल इन्द्रीय निग्रह ही नहीं है बल्कि इसके साथ ही वेदाध्ययन भी है।[4] आश्रम शब्द संस्कृति श्रम् धातु से बना है, 'आश्राम्यन्ति अस्मिन् इति आश्रमः', अर्थात् एक ऐसा जीवन स्तर जिसमें व्यक्ति खूब श्रम् करता है। आश्रम शब्द संहिताओं एवं ब्राह्मण ग्रंथों में नहीं आया है। परंतु ब्रह्मचारी शब्द का उल्लेख मिलता है। प्रारंभिक उपनिषदों में तीन तथा जाबाल उपनिषद में चारों आश्रमों के नाम मिलते हैं। उनकी व्यवस्था प्राचीनतम धर्म सूत्रों में मिलती है।[5] चारों आश्रमों में ब्रह्मचर्य को प्रथम स्थान दिया गया है। जैसा पूर्व में उल्लेख किया गया है कि धीरे–धीरे वैदिक साहित्य बढ़कर विशाल हो गया था। उसे अक्षुण्ण बनाए रखना समाज का कर्तव्य माना गया है। अतः प्राचीन व्यवस्थाकारो ने तीन ऋणों का प्रावधान किया है। तीन ऋण थे– देव ऋण, ऋषि ऋण एवं पितृ ऋण। मनु ने निर्देशित किया है कि तीन ऋणों से मुक्त होकर मन को मोक्ष में लगाएं।[6] आगे लिखा है कि जो द्विज वेदों को न पढकर तथा पुत्रों की उत्पत्ति और यज्ञो का निष्पादन न कर संन्यास की इच्छा करता है, वह निम्न गति को प्राप्त होता है।[7] ब्रह्मचर्य आश्रम के विधान का शैक्षणिक रूप तीन ऋणों की कल्पना के साथ उसके संबंध से स्पष्ट होता है। ब्रह्मचर्य आश्रम में ऋषियों के प्रति ऋण को व्यक्ति ब्रह्मचारी रूप में रहकर , ऋषियों के संचित ज्ञान को प्राप्त कर और उसके साथ सातत्य को

बनाए रखने में योगदान देकर उत्रऋण हो सकता था। इस तरह ब्रह्मचर्य आश्रम के माध्यम से शिक्षा प्राप्त करने और ऋषियों के ज्ञान एवं साहित्यिक परंपरा को अक्षुण्ण रखने की व्यवस्था की गई। किंतु जैसा पूर्व में उल्लेख किया गया है कि प्राचीन मनीषी केवल वस्तुनिष्ठ ज्ञान को ही वास्तविक ज्ञान नहीं मानते थे क्योंकि इससे मनुष्य के अंतिम उद्देश्य एवं पुरुषार्थ मोक्ष की प्राप्ति संभव नहीं हो सकती। वास्तविक ज्ञान ब्रह्मा का ज्ञान था जिसे मुक्ति का साधन कहा गया, 'सा विद्या या विमुक्तये', ऐसा ज्ञान विद्वान शिक्षक ही दे सकता था। अतः आचार्य के चयन में भी सावधानी की आवश्यकता होती थी। व्यास के अनुसार आचार्य वेदनिष्ठ, धर्मज्ञ, कुलीन, पवित्र एवं शाखा के अध्ययन में आलस्य न रखने वाला हो।[8]

इस प्रकार का ज्ञान समूह को नहीं दिया जा सकता था। इसका संबंध व्यक्ति से था तथा इसकी प्राप्ति हेतु शिक्षक–शिक्षार्थी में घनिष्ठ संबंध आवश्यकता था। इस दृष्टि से उपनयन अपेक्षित माना गया। ब्रह्मज्ञान मौखिक रूप से प्राप्त नहीं किया जा सकता था। इसके लिए अनुभूति आवश्यक थी। इस ज्ञान की प्राप्ति के लिए श्रवण, मनन,(चिंतन करना) एवं निदिध्यासन (अनुभूति करना) अपेक्षित था। गुरुकुल में निवास करने वाले ब्रह्चारियों के दो प्रकार कहे गए हैं। एक प्रकार के ब्रह्मचारी 'उपकुर्वाण' कहे जाते थे। जो कुछ प्रतिदान देते थे और ब्रह्मचर्य आश्रम के बाद गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते थे। दूसरे नैष्ठिक जो ब्रह्मज्ञान के निमित्त मृत्युपर्यंत ब्रह्मचारी रहते थे।

उद्योग

ब्रह्मचारियों के विधान को ब्रह्मचारी धर्म कहा जाता था जिसमें अग्निपरिचर्या, भिक्षाटन, संध्योपासन, वेदाध्ययन एवं गुरु सुश्रुषाआदि सम्मिलित थे। पवित्र अग्नि के लिए लकड़ियां एकत्र करना शिक्षार्थी का प्रथम कर्तव्य था।[9] ब्रह्मचारी का दूसरा कर्तव्य आश्रम की पशुओं को चराना तथा आश्रम की व्यवस्था देखना था। मुकर्जी के अनुसार इससे शिक्षार्थी श्रम के महत्व से परिचित होता था एवं विद्यार्थियों में परस्पर भ्रातृत्व की भावना का विकास होता था।विद्यार्थी का कर्तव्य प्रतिदिन भिक्षाटन करना था। भिक्षा से उन्हें जीवन में विनय की शिक्षा मिलती थी और उसे यह अभिज्ञान होता था कि समाज की सहानुभूति और सहायता से ही वह ज्ञान प्राप्त कर अपनी जीविकोपार्जन करने योग्य बनता है। उसे भी समाज के प्रति कर्तव्य को भली–भांति पालन करना है। यह नियम शिक्षार्थियों में धनी एवं निर्धन के बीच भेद को मिटाता था इस प्रावधान से निर्धन से निर्धन छात्र विद्याध्ययन कर सकते थे। यदि कोई पीढ़ी अपने परंपरागत ज्ञान से अगली पीढ़ी को वंचित कर देती है तो सभ्यता की प्रगति अवरूद्ध होगी। प्राचीन मनीषियों के अनुसार शिक्षार्थी को भिक्षा देना गृहस्थ का धर्म था। भिक्षा के नियम आश्रम द्वारा संचालित होते थे। नियमानुसार आवश्यकता से अधिक विद्यार्थी भिक्षा ग्रहण नहीं कर सकता था।[10] शतपथ ब्राह्मण में विवरण आया है कि विद्यार्थी इससे मानवता तथा आत्मत्याग के गुण ग्रहण करता था। भिक्षा के विधान द्वारा समाज को भी यह बोध कराया जाता था कि विद्यार्थी समाज की भावी आशा है और समाज एवं संस्कृति की रक्षा तथा उसका विकास उसी पर निर्भर है। फलतः उसकी शिक्षा की आवश्यकताओं को यत्नपूर्वक पूरा करना चाहिए। बड़े शिक्षा केंद्रों एवं विद्यालयो में दान आदि की धन से भोजन, वस्त्र आदि की व्यवस्था की जाती थी।

कुछ परिस्थितियों में अध्ययन बंद रहता था जिसे अनध्याय कहा जाता था। सूत्र एवं स्मृति ग्रंथों में विवरण मिलता है कि पहली, आठवीं, चौदहवीं एवं पन्द्रहवीं तिथियों में अध्ययन नहीं किया जाना चाहिए।जिस दिन उल्कापात हो तो वह दिन भी अध्ययन की तिथि नहीं मानी जाती थी। अनेक शिक्षार्थियों में से किसी एक के नए आने पर नए अध्याय का अध्ययन नहीं किया जाता था। ऐसे अवसर पर पूर्व अध्यायों को दोहराया जाता था।[11] अध्ययन का प्रारंभ श्रावण एवं अंत पौष माह में होता था। इस तरह वेदाध्ययन 4–5 माह ही होता था। उपनयन के बाद 12–वर्ष का अध्ययन काल माना गया। ब्राह्मण के लिए एक वेद पढ़ना आवश्यक था किंतु अन्य दो वर्णों के लिए आवश्यक न था। क्षत्रिय को धनुर्विद्या,राजनीति, दंडनीति का ज्ञान करवाया जाता था। वैश्य वर्ग को अर्थशास्त्र की शिक्षा दी जाती थी। शतपथ ब्राह्मण में वेदों के अतिरिक्त विद्यार्थियों को इतिहास–पुराण, व्याकरण,क्षात्रविद्या, तर्कशास्त्र, शिक्षा, निरुक्त, छंद, नक्षत्र, ज्योतिष ,राशि ,भूतविद्या की शिक्षा दी जाने का उल्लेख मिलता है।[12] छांदोग्य उपनिषद के एक आख्यान में नारद विविध विद्याओं का ज्ञान होने का उल्लेख करते हैं। चार वेदों के साथ इतिहास, पुराण, व्याकरण, गणित, विधिशास्त्र, तर्कशास्त्र, नीति शास्त्र, क्षत्रविद्या, नक्षत्रविद्या, सर्पविद्या, नृत्य एवं संगीत आदि का उल्लेख आया है।[13] शिक्षा समाप्ति के बाद समावर्तन संस्कार होता था। प्राचीन समय में गुरु शिष्य से शुल्क नहीं लेते थे।समावर्तन के बाद शिष्य श्रद्धा पूर्वक कुछ दे सकता था। शिक्षा समाप्ति के बाद विद्यार्थियों को करवाए जाने वाले स्नान के कारण उसे स्नातक कहा जाने लगा।

वेद का अध्ययन करने वालों को मूर्खों के समान केवल लोक व्यवहार में हल चलाने में चतुर कहा गया है।[14] दसवें मंडल में एक यज्ञ के अवसर पर ब्राह्मणों को एकत्र होकर वाणी की शुद्धि करने की चर्चा मिलती है। वेदों के उच्चारण से वाणी उसी प्रकार शुद्ध की जाती थी, जिस प्रकार सत्तू को छलनी से छाना जाता है। इससे तत्कालीन शिक्षा के प्रावधान की ओर संकेत करते हैं। यजुर्वेद में 'ऋषिऋण' स्वाध्याय की ओर संकेत करता है। अथर्ववेद में एक पूरा सूक्त ब्रह्मचारी के गुणगान में लिखा गया है। स्त्री शिक्षा का प्रचलन था। कहा गया है कि ब्रह्मचर्य से कन्याएं उत्तम वर प्राप्त कर सकती थी। उषा, अपाला,आत्रेयी आदि ने ऋग्वेद की ऋचाएँ भी लिखी थी ।

वेदों का अध्ययन प्रारंभ में परिवार और इसके बाद शाखाओं और जिस शाखा का अध्ययन जिस संस्थान में होता था उसे चरण कहते थे। संभवतः बाद में एक चरण में ही चार वेद पढ़ाए जाते होंगे किंतु कालांतर में श्रवण भेद बढ़ता गया तथा एक चरण में एक ही वेद का अध्ययन होता था। वेदांगों का अध्ययन भी चरणों के साथ जुड़ा हुआ था। प्राचीन चरण परंपरा में किसी परिवार

विशेष से संबंधित नहीं था बल्कि शिष्य अपने गुरु के चरण के नाम से प्रख्यात होता था। चरणों के अतिरिक्त परिषद भी होती थी। चरण के निष्णात व्यक्ति परिषद के सभासद् होते थे तथा विभिन्न चरणों के विद्वान एक ही परिषद के सभासद् हो सकते थे। ब्राह्मण काल में प्रथम दो आश्रमों का स्वरूप भी सामने आया।पूर्व में जैसा उल्लेख किया गया है कि प्रोफेसर गोविंद चंद्र पांडे आदि विद्वान संन्यास आश्रम को जैनों एवं बौद्धों से आविर्भूत मानते हैं। संन्यास आश्रम को ब्राह्मण धर्म में ईसा पूर्व पांचवी चौथी शताब्दी में स्वीकार किया गया हैं विद्यारंभ के साथ लिपि एवं संख्या का ज्ञान करा दिया जाता था। अर्थशास्त्र एवं महाभारत से लेखन परंपरा के प्राचीन होने का संकेत मिलता है। एक प्रकार के शिक्षकों का विवेचन मिलता है जो घूम–घूमकर शिक्षा देते थे, उसे 'चरण'कहा जाता था।[15] बाद में चरण पद्धति जटिल होती नहीं लगी थी। अतः उनका स्वरूप क्या था कहना कठिन है। कुछ विद्यार्थियों के लिए खटवारुढ़, दक्षारुढ़, चारणाई शब्द प्रयुक्त हुए हैं। गुरु परिवर्तन का विधान भी हो गया था। अलग–अलग विधिओं हेतु एकाधिक उपनयन के उल्लेख मिलते हैं। कुछ शिक्षक धन लेकर विद्या सिखाते थे जिन्हें 'उपाध्याय' कहा जाता था।[16] स्त्री शिक्षा का महत्व इस काल में बना रहा।

परीक्षा का विस्तृत विवेचन नहीं मिलता है,किन्तु राजशेखर ने उल्लेख किया है कि प्राचीन काल में पाटलिपुत्र की राज्यसभा में शास्त्रकार परीक्षा होती थी। संभवतः विद्यार्थी को परखने का थोड़ा–बहुत विधान था। समय–समय पर शास्त्रार्थ भी होता था। इसी प्रक्रिया में परिषद परंपरा का विकास हुआ। विशिष्ट ज्ञान या संशय निवारण परिषदों में संभव था। विद्या में निष्णात विद्यार्थियों को 'तर्कवागीश', 'तर्कमार्तंड' आदि की उपाधियां भी दी जाती थी। उज्जैयनी की काव्यकार परीक्षा प्रसिद्ध थी। सभा में नए विद्वान के आने पर सभा के पूर्व सदस्य वाद–विवाद द्वारा परीक्षा लेते थे। संभवतः इस प्रक्रिया में पारितोषिक दिया जाता था। कात्यायन ने विद्वान को किस प्रकार धन मिल सकता हैं, उल्लेख किया है जो "ब्राह्मण अच्छे ढंग से वेदपठन करता था उसे धन मिलता था।" कभी–कभी राजाओं द्वारा भी धन दिया जाता था। कात्यायन ने प्राध्ययन परंपरा का उल्लेख किया है। इस व्यवस्था में दो प्रकार से योग्यता की परीक्षा की जाती थी। प्रथम 'अध्ययन' अर्थात् वेदपाठ द्वारा, द्वितीयबुद्धि अथवा वेद का अर्थ करवाकर। इस पद्धति में पारितोषिक का विधान था। न्यायालय में भी विवाद हुआ करते थे। इनमें भी परिषद एवं विद्वानों का सहारा लिया जाता था।

सूत्र काल के बाद शिक्षा विधान अधिक विस्तृत हो गए। आयुर्वेद ग्रंथों से ज्ञात होता है कि इसके लिए सामान्य उपनयन से अलग उपनयन का विधान था। आयुर्वेद की शिक्षा पूर्ण होने पर शपथ लेना होता था। आयुर्वेद की शिक्षा के बाद वेतन लेकर चिकित्सा कर सकते थे। प्राचीन काल में आयुर्वेद का ज्ञान बहुत विकसित हुआ। तत्कालीन चिकित्सालयों में परिचारकों की व्यवस्था भी होती थी। इस विषय में विस्तृत विवेचन पूर्व में किया गया है। धनुर्विद्या के लिए नवीन उपनयन का विधान था। धनुर्विद्या की समाप्ति के बाद 'छूरिका बंधन' संस्कार होता था। विविध प्रकार के कौशल और व्यापार एवं बैंकिंग की शिक्षा हेतु अनेक विधान थे। शिल्प में समय से कौशल सीख लेने पर उपार्जित धन आचार्य का माना जाता था। निर्धारित धन देकर शिष्य को काम दिए जाने की जानकारी मिलती है।

विभिन्न व्यवसायों से संबंधित अनेक श्रेणियां होती थी, जिनकी चर्चा पूर्व में की गई है। मूर्तिकार, कुलाल, स्वर्णकार, लोहार आदि अनेक श्रेणियों का उल्लेख बौद्ध ग्रंथों में मिलता है। व्यवसाय शिक्षा लेने हेतु भी शिष्य को अंतेवासी होना पड़ता था। विद्यार्थी दूर–दूर से प्रमुख शिक्षा केंद्रों में विद्याध्ययन हेतु जाते थे।तक्षशिला शिक्षा का बड़ा केंद्र था जहां दूर–दूर से शिक्षार्थी उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए आते थे।जातकों में विवरण आया है कि बनारस से लोग अट्ठारह शिल्प की विद्या सीखने गए। बनारस भी शिक्षा का एक महत्वपूर्ण केंद्र था।बनारस में एक संगम आचार्य के पास 500 शिष्य थे। बड़े शिक्षा केंद्रों में गरीब विद्यार्थियों की वृत्ति तथा भोजन आदि की व्यवस्था होती थी।

यहाँ महाभारत में उल्लेखित विशेष प्रकार की शिक्षा पद्धति का विवेचन करना अप्रासंगिक नहीं होगा।महाभारत से आश्रम व्यवस्था का ज्ञान होता है। वन में अनेक शिष्यों के आचार्य एक ही स्थान पर निवास करते थे और उत्सुक विद्यार्थी इस तरह के आश्रमों में शिक्षा प्राप्त करने जाते थे।संभवतः इनमें शूद्रों को शिक्षा नहीं दी जाती थी, जिसा एकलव्य के आख्यान से अभिज्ञात होता है।आश्रमों में विभिन्न विषयों के अलग–अलग विभाग होते थे– राजनीति, अर्थनीति, वार्ता,कृषि, व्यापार आदि। इस काल में क्षत्रिय के साथ–साथ ब्राह्मण भी युद्ध कला में निष्णात होते थे,जैसे द्रोणाचार्य,कृपाचार्य आदि।सामान्य विषयों के अतिरिक्त कुछ तकनीकी विषयों के अध्ययन की भी जानकारी मिलती है– ज्योतिष स्थान, स्तोमस्थान, गरूढ़स्थान, कार्तिकेयस्थान आदि। परवर्ती काल में शिक्षा के प्रमुख केंद्र मन्दिर एवं मठ हो गए। प्राचीन शिलालेखों से ज्ञात होता है की मंदिरों के साथ बड़ी–बड़ी जागीरें होती थी, जिन्हें राजा द्वारा दान दिया जाता था। आचार्य को वेतन मिलता था। इसी कृपया में ब्राह्मणों के अलग–अलग ग्राम बसने लगे। ब्राह्मणों की बस्ती को 'अग्रहार' कहा गया। अग्रहारों की एक सभा द्वारा शिक्षा की व्यवस्था की जाती थी। नवीन विद्वानों की परीक्षा भी अग्रहार करते थे।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. *छान्दोग्योपनिषद्, 6/1/1/3*
2. *Mookerji,op.CIT."It is like an admission of pupil to the register of a school on his payment of prescribed fee."*
3. *याज्ञवल्क्य स्मृति, उपनीय गुरुः शिष्य महाव्यह्यति पूर्वकम्। वेदमध्यापयेद् शौचाचाराश्च शिक्षयेत् ।।*
4. *मिश्र,जयशंकर,प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पृष्ठ.223*
5. *बौधायन धर्मसूत्र, 2/11/14,ब्रह्मचारी,गृहस्थो वानप्रस्थः परिव्राजक इति।*
6. *मनुस्मृति, 6/35, ऋणानि त्रिण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्। अनपाकृत्य मोक्षं तु सेवमाने व्रजत्यधः।।*

7. *मनुस्मृति, 6/37, अनधीत्य द्विजो वेदाननुत्पाद्य तथा सुतान। अनिष्टवा चौव यज्ञेश्च मोक्षमिच्छन्व्रजत्यधः।।*
8. *व्यास, वैदेकनिष्ठं धर्मज्ञं कुलीनं श्रोत्रियं शुचिम्। स्वशाखाज्ञमनालस्यं विप्र कर्तारं ईप्सितम्।।*
9. *Ibid."The pupil's first daily duty is to thr woodd cut and collect fuel,and fetch it home for tending the sacred fire."*
10. *Ibid." another duty of the Brahmachari is to go out on a daily round of begging.It was not begging for himself but for the support of his school."*
11. *मनुस्मृति, 2/2102–106.*
12. *शतपथ ब्राह्मण, 4/6/9/20/11/5/6/8.*
13. *छान्दोग्य उपनिषद्, 7/1.*
14. *ऋग्वेद, 10/71/9, इमे ये न परश्चरन्ति न ब्राह्मणासो न सुतेकरासः। ते एते वाचमभिपद्य पापया सिरीस्तन्त्र तन्वते अप्रजज्ञयः।।*
15. *शतपथब्राह्मण, 4/2/4/1.*
16. *मनुस्मृति, 3/156.*